शोध संचयन
SHODH SANCHAYAN
ISSN 2249-9180 (Online)
ISSN 0975-1254 (Print)
RNI No.: DELBIL/2010/31292

Bilingual journal of Humanities & Social Sciences

Half Yearly

Vol. 2, Issue 1 & 2, (Joint Issue)
15 Jan-15 July, 2011

उपन्यासकार 'प्रसाद' के साहित्य सिद्धांत

प्रो० नरेन्द्र कोहली
कथा साहित्य के अप्रतिम शिल्पी, वरिष्ठ साहित्यकार, १७५, वैशाली, पीतमपुरा, दिल्ली-११००३४

www.shodh.net

उपन्यासकार 'प्रसाद' के साहित्य सिद्धांत

– प्रो० नरेन्द्र कोहली

विभिन्न उक्तियों में उल्लिखित प्रसाद के साहित्य प्रयोजन चार वर्गों में विभक्त किए जा सकते हैं : आनंद एवं मनोरंजन, अशिव का नाश तथा शिव की स्थापना, अर्थ तथा यश। भारतीय परंपरा साहित्य के साथ लोकोत्तर आनंद अथवा ब्रह्मानंद सहोदर रस का अनिवार्य संबंध मानती है। प्रसाद ने भी परंपरानुरूप आनंद की स्वीकृति दी है:

क ...''अरस्तू कला को अनुकरण मानता है। लोकोत्तर आनंद की सत्ता का विचार ही नहीं किया गया। उसे तो शुद्ध दर्शन के लिए सुरक्षित रखा गया।''[1]

ख ... ''कविता का आस्वादन करने वाले के हृदय में एक अपूर्व आह्लाद होता है। ... उसके आस्वाद के लिए सहृदयता की आवश्यकता होती है। कविता मात्र के आस्वादन के समय केवल स्वप्रकाशानंद ही रहता है।''[2]

लोकोत्तर आनंद को दर्शन के लिए ही आरक्षित करने के लिए प्रथम उक्ति में अरस्तू की भर्त्सना की गई है। प्रसाद इस चिंतन पद्धति से असहमत हैं। द्वितीय उक्ति में वे रस सम्प्रदाय से सर्वथा सहमत हैं। वे साहित्य का प्रयोजन आनंद मानते हैं, जो लोकोत्तर एवं स्वप्रकाशानंद है। उस आनंद का आस्वादन रचनाकार तथा पाठक अथवा प्रेक्षक दोनों ही करते हैं, किंतु उस आस्वादन के लिए सहृदयता अनिवार्य अनुबंध है। इस विश्लेषण के अनुसार प्रसाद स्पष्टत: आनंदवादी थे, किंतु महादेवी वर्मा ने इस मान्यता का प्रबल विरोध किया है : ''प्रसाद को आनंदवादी कहने की भी एक परंपरा बनती जा रही है। पर कोई महान् कवि विशुद्ध आनंदवादी दर्शन नहीं स्वीकार करता क्योंकि अधिक और अधिक सामंजस्य की पुकार ही उसके सृजन की प्रेरणा है और वह निरंतर असंतोष का दूसरा नाम है।''[3] सामंजस्य की पुकार का स्वयं प्रसाद ने भी समर्थन किया है : ''अंधकार का आलोक से, असत् का सत् से, जड़ का चेतन से और बाह्य जगत का अन्तर्जगत से संबंध कौन करती है ? कविता ही न?''[4] इसी तथ्य की डॉ० नगेन्द्र ने विस्तृत व्याख्या की है : ''.... जीवन में उन्हें (प्रसाद को) आनंद इष्ट था, इसलिए वे शिव के उपासक थे। बस शिव की उपासना उनके मन का विश्लेषण करने के लिए पर्याप्त है। शिव का शिवत्व इसी में है कि वे हलाहल को पान कर गए? और उसको पचाकर फिर भी शिव ही बने रहे, उनका कंठ चाहे नीला हो गया हो परंतु मुख पर वही आनंद का शांत प्रकाश बना रहा। ... आधुनिक जीवन की विभीषिका को उन्होंने देखा और सहा था, यह ज़हर उनके प्राणों में एक तीखी जिज्ञासा बनकर समा गया था – उनकी आत्मा जैसे आलोड़ित हो उठी हो। इस आलोड़न को दबाते हुए आग्रह के साथ आनंद की उपासना करना ही उनके आदर्श की व्याख्या करना है – और यही उनके साहित्य की मूल चेतना है।''[5] डॉ० नगेन्द्र के इस विस्तृत विवेचन का निष्कर्ष महादेवी की यह उक्ति है : ''बहुत संभव है कि सब प्रकार के अंतरंग-बहिरंग संघर्षों में मानसिक संतुलन बनाए रखने के प्रयास में ही उन्हें आनंदवादी दर्शन की उपलब्धि हो गई हो जिसके भीतर करुणा की अन्त: सलिला प्रवाहित है।''

महादेवी वर्मा तथा डॉ० नगेन्द्र ने प्रसाद को आनंदविरोधी नहीं माना है, केवल उसके साथ कतिपय विशेषण अनुबंधित कर दिए हैं। अत: प्रसाद की आनंद संबंधी मान्यता के दो खंड हैं – (शुद्ध) आनंद तथा करुणायुक्त आनंद। साहित्यकार के पक्ष में साहित्य का प्रयोजन सामंजस्य के प्रयत्न द्वारा उपलब्ध करुणायुक्त आनंद है। किंतु पाठक की दृष्टि से साहित्य प्रयोजन शुद्ध आनंद ही होगा। उसे रचनाकार की प्रत्येक चेष्टा से आनंद की ही उपलब्धि होती है।

गंभीर विचारक के रूप में प्रसाद साहित्य को मनोरंजन के स्तर पर स्वीकार नहीं कर सकते। किंतु आनंद अथवा रसास्वादन के हेतु पाठक में सहृदयता की अवस्थिति की अनिवार्यता की स्वीकृति इस संभावना के लिए भी आधारभूमि प्रस्तुत करती है। कतिपय पाठकों में सहृदयता की अल्पता अथवा सहृदयता का अभाव भी हो सकता है। अत: एक ही रचना से अधिक सहृदय पाठक को यदि आनंद की उपलब्धि होती है, तो अन्य पाठक को जिसमें सहृदयता की मात्रा न्यून है – उसमें मनोरंजन ही प्राप्त होगा। कदाचित् इसी आधार पर प्रसाद ने

शोध संचयन
SHODH SANCHAYAN
ISSN 2249-9180 (Online)
ISSN 0975-1254 (Print)
RNI No.: DELBIL/2010/31292

Bilingual journal of Humanities & Social Sciences

Half Yearly

Vol. 2, Issue 1 & 2, (Joint Issue)
15 Jan-15 July, 2011

उपन्यासकार 'प्रसाद' के साहित्य सिद्धांत

प्रो० नरेन्द कोहली
कथा साहित्य के अप्रतिम शिल्पी, वरिष्ठ साहित्यकार, १७५, वैशाली, पीतमपुरा, दिल्ली-११००३४

www.shodh.net

साहित्य–प्रयोजन–स्वरूप मनोरंजन का भी उल्लेख किया है:

क – ''संसार को काव्य से दो तरह के लाभ पहुंचते हैं – मनोरंजन और शिक्षा।''[6]

ख – ''मनोरंजन और शिक्षा काव्य के दो उद्‌देश्य हैं।''[7]

यहाँ शिक्षा से प्रसाद का अभिप्राय: 'लोक–व्यवहार–शिक्षा' से है। अत: उन्होंने लोक–मंगल को भी साहित्य–प्रयोजन स्वीकार किया है। इसकी अभिव्यक्ति एकाधिक संज्ञाओं के माध्यम से हुई है, किंतु मूल प्रतिपाद्य अशिव का नाश कर शिव की स्थापना, अथवा ऋणात्मक तत्वों का भावात्मक तत्वों से संबंध स्थापित कर, अकल्याणी वस्तुओं का संहार है:

क – ''काव्य की धारा लोक–पक्ष से मिलकर अपनी आनंद–साधना में लगी रही।''[8]

ख – ''अंधकार का आलोक से, असत् का सत् से, जड़ का चेतन से और बाह्य जगत् का अन्तर्जगत् से संबंध कौन कराती है? कविता ही न ?''[9]

ग – ''प्रसाद जी ने जागरण के संपादकीय अग्रलेख में लिखा था – हां, अपवित्रता, असत् और दुश्चरित्रता कला का उद्‌देश्य न होना चाहिए।''[10]

इन तीनों उदाहरणों में एक ही प्रयोजन का विभिन्न शब्दों में उल्लेख किया गया है। प्रथम उद्धधारण का लोक–पक्ष, आचार्य शुक्ल का लोक–मंगल ही है। लोक–मंगल ऋणात्मक शक्तियों का नाश कर, भावात्मक शक्तियों को दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित करता है। दूसरे उदाहरण में विभिन्न विरोधी तत्वों के सामंजस्य की चर्चा है, किंतु आलोक का सामंजस्य अंधकार का नाश ही करेगा, जड़ चैतन्य में परिणत होगा, असत् सत् की ओर तथा बहिर्जगत (भौतिकता) अन्तर्जगत (अध्यात्म) की ओर उन्मुख होगा। इस प्रकार समस्त अकल्याणकारी तत्वों का नाश तथा कल्याणकारी तत्वों की प्रतिष्ठा ही साहित्य का प्रयोजन है। तीसरे उदाहरण के अनुसार अपवित्रता असत् तथा दुश्चरित्रता का चित्रण, कला का प्रयोजन नहीं है। अत: इनके विरोधी गुणों, जो सामाजिक हित में है, को प्रोत्साहित करना कला का प्रयोजन है। यही परंपरागत प्रयोजन 'शिवेतरक्षतये' है।

साहित्य से अर्थ–लाभ के संबंध में प्रसाद जी ने प्रत्यक्ष सिद्धांत–प्रतिपादन नहीं किया है, तथापि उनके विषय में विनोदशंकर व्यास का यह कथन द्रष्टव्य है :

''प्रसादजी ने अपने जीवन में पारिश्रमिक के रूप में एक पैसा किसी पत्र–पत्रिका से नहीं लिया। वे नि:स्वार्थ भाव से साहित्य सेवा करते रहे। हिंदुस्तानी एकेडमी से 500 रुपये का और काशी नागरी प्रचारिणी सभा से 200 रुपये का पुरस्कार उन्हें मिला था। यह 700 रुपये भी उन्होंने काशी नगरी प्रचारिणी सभा को अपने बड़े भाई के स्मारक स्वरूप भेंट कर दिया था।''[11]यह प्रसाद का व्यवहार था, आवश्यक नहीं कि यह उनका सिद्धांत भी हो। अत: सिद्धांत–संधान आवश्यक है। अपनी कहानी चूड़ीवाली में उन्होंने एक पात्र से कहलवाया है: ''... क्योंकि वह (कला का व्यवसाय) उन सबों में अधम और निकृष्ट है।''[12]

अत: अर्थ साहित्य–प्रयोजन नहीं हो सकता। किंतु उनके एक प्रौढ़ नाटक 'स्कंदगुप्त का महत्वपूर्ण पात्र मातृगुप्त साहित्य–सृजन तथा विद्वता–प्रदर्शन के पश्चात् अपनी निर्धनता का विलाप करता है : ''कविता करना अनंत पुण्य का फल है। इस दुराशा और अनंत उत्कंठा से कवि–जीवन व्यतीत करने की इच्छा हुई। संसार के समस्त अभावों को असंतोष कहकर हृदय को धोखा देता रहा। परंतु कैसी विडंबना ! लक्ष्मी के लालों का भ्रू–भंग और क्षोभ की ज्वाला के अतिरिक्त मिला क्या? एक काल्पनिक प्रशंसनीय जीवन, जो कि दूसरों की दया में अपना अस्तित्व रखता है ! संचित हृदय–कोष के अमूल्य रत्नों की उदारता : और दारिद्रय का व्यंग्यात्मक कठोर अट्‌टहास, दोनों की विषमता की कौन सी व्यवस्था होगी। मनोरथ को–भारत के प्रकांड बौद्ध पंडित को – परास्त करने में मैं भी सब की प्रशंसा का भाजन बना। परंतु क्या हुआ ?''[13]

यहां कलाकार को कला एवं विद्वता–प्रदर्शन से यश–लाभ का उल्लेख तो है, किंतु अर्थ के अभाव में वह विलाप करता है। मातृगुप्त प्रसाद के साहित्य विषयक अनेक सिद्धांतों का प्रवक्ता है, अत: एक पात्र की उक्ति–मात्र के रूप में उसकी अवज्ञता नहीं की जा सकती। किंतु प्रसाद के जीवन के तथ्यों तथा चूड़ीवाली कहानी की उक्ति से इसका समर्थन नहीं होता, अत: प्रसाद का सिद्धांत इनके मध्य का कोई मार्ग होना चाहिए।

शोध संचयन
SHODH SANCHAYAN
ISSN 2249-9180 (Online)
ISSN 0975-1254 (Print)
RNI No.: DELBIL/2010/31292

Bilingual journal of Humanities & Social Sciences

Half Yearly

Vol. 2, Issue 1 & 2, (Joint Issue)
15 Jan-15 July, 2011

उपन्यासकार 'प्रसाद' के साहित्य सिद्धांत

प्रो० नरेन्द्र कोहली
कथा साहित्य के अप्रतिम शिल्पी, वरिष्ठ साहित्यकार, १७५, वैशाली, पीतमपुरा, दिल्ली-११००३४

www.shodh.net

संभवतः प्रसाद जी की मान्यता यह थी कि यदि स्वतंत्र व्यवसाय अथवा अन्य किसी साधन से जीविकोपार्जन हो सके तो साहित्य को अपनी आय का साधन न बनाया जाए। यदि यह संभव न हो, तो भी साहित्य को व्यवसाय न बनाया जाए, क्योंकि वह अधम व्यवसाय है। किंतु, अर्थ के अभाव में जीवन–निर्वाह नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में मातृगुप्त ही समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है। मातृगुप्त की कला तथा विद्वता को मान्यता प्रदान कर, शासन उसे एक उच्च पद पर नियुक्त करता है। अतः साहित्यकार अथवा कलाकार को आर्थिक विपन्नता से मुक्त करने का कार्य शासन का है। किंतु, साहित्यकार जीविकोपार्जन के लिए राज्य का कोई पद ग्रहण करे अथवा किसी अन्य व्यवसाय का आश्रय ले – उसे अपने लेखन को स्वतंत्र रखना है ताकि कोई धनवान उसकी कला का क्रय न कर सके। निष्कर्षतः प्रसाद के अनुसार अर्थ के प्रति मोह साहित्य का प्रयोजन नहीं है।

मातृगुप्त की प्रसिद्ध उक्ति[14] एक ओर अर्थाभाव में साहित्यकार के जीवन की विपन्नता को प्रकट करती है और दूसरी ओर, साहित्य के अन्य मुख्य प्रयोजन, यश को मान्यता देती है। यश साहित्य का अनपेक्षित, अनाकांक्षित प्रयोजन है। यह साहित्यकार की आकांक्षा–अनाकांक्षा से निरपेक्ष है और श्रेष्ठ साहित्य से अनिवार्य रूप से अनुलग्न है। इस प्रयोजन की दृष्टि प्रसाद ने अपनी अन्य रचनाओं में भी की है : ''वह स्मृति में जैसे जग पड़ी। उसने सतृष्ण दृष्टि से उस कहने वाले को खोजा और अपनी बधाई के फूल–विजयमाला–उस दूर खड़े कंगाल कवि के चरणों में श्रद्धांजलि सदृश बिखेरने चाहे। रसदेव ने गर्वस्फीत सर झुका दिया।''[15] यह वर्णन भी मातृगुप्त की उक्ति का ही समर्थन है। कवि यहाँ भी कंगाल और निर्धन है, किंतु आदर, प्रेम तथा प्रशंसा से भरपूर यश उसे प्राप्त हो ही जाता है।

प्रसाद जी के अनुसार मनोरंजन तथा आनंद को अंशों के भेद से एक ही वर्ग में स्वीकार करने पर तीन प्रयोजन रह जाते हैं : आनंद, लोक–मंगल तथा यश। इनमें सर्वप्रमुख आनंद है, और उसके भागी लेखक तथा पाठक दोनों हैं। लोक–मंगल का संबंध संपूर्ण समाज से है और यश केवल लेखक को प्राप्त होता है।

साहित्य–सिद्धांतों के क्षेत्र में बहुधा साहित्य के अतिरिक्त अन्य शब्दों के माध्यम से भी अपना मन्तव्य स्पष्ट कर लिया जाता है। पाश्चात्य चिंतन के अनुसार समस्त ललित कलाओं को कला के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है और काव्य ललित कलाओं में सर्वश्रेष्ठ है। अतः कला शब्द से ही काव्य संबंधी तथ्यों को स्पष्ट कर दिया जाता है। दूसरी ओर भारतीय साहित्य में शताब्दियों तक काव्य एवं साहित्य पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयुक्त होते रहे हैं। प्रसाद के सम्मुख दोनों मार्ग थे। वे भारतीय परंपरा के अनुसार काव्य एवं साहित्य को पर्याय भी मान सकते थे और पाश्चात्य विचार का अनुसरण कर साहित्य को कला के अन्तर्गत भी स्वीकार कर सकते थे। किंतु, भारतीय चिंतन में अधिक निष्ठा होने के कारण उन्होंने काव्य को कला के अन्तर्गत स्वीकार नहीं किया : ''(काव्य) आत्मानुभूति की मौलिक अभिव्यक्ति है। ... कला को भारतीय दृष्टि में उपविद्या माना गया है।''[16] इसी उक्ति के आधार पर डॉ0 सुरेशचंद्रगुप्त इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि ''उन्होंने न तो पश्चिमी विचारकों की भांति काव्य को कला का अंश माना है, न वे काव्य और कला को समकक्ष ही मानते हैं, अपितु उनका दृष्टिकोण स्पष्टतः यही रहा है कि काव्य की स्थिति कला से श्रेष्ठ है। काव्य में हृदय–तत्त्व और कला में बुद्धि–तत्त्व की प्रधानता से भी यही सूचित होता है।''[17]

डॉ0 निर्मल वधवा ने अपने शोध–ग्रंथ में तेरहवें हिंदी साहित्य सम्मेलन (कानपुर) के कार्य–विवरण (तीसरा भाग, पृ0 106) से कतिपय ऐसी पंक्तियाँ उद्धृत की हैं, जिनमें प्रसाद जी कला के पाश्चात्य वर्गीकरण को स्पष्ट मान्यता प्रदान करते हैं : ''काव्य एक कला है और ललित सुकुमार कलाओं में सुकुमार कला है ... ।''[18] इन पंक्तियों से पूर्व–स्थापित मान्यता खंडित हो जाती है। किंतु, प्रसाद जैसे चिंतक से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वे इस प्रकार के आत्मविरोध में ग्रस्त होंगे। संभवतः प्रसाद भारतीय मान्यता के समर्थक हैं, हिंदी साहित्य पर पाश्चात्य साहित्य के वर्धमान प्रभाव के संदर्भ में, समय के साथ–साथ उनका दृष्टिकोण पाश्चात्य चिंतन के प्रति किंचित् नम्र हो गया और अनेक वर्गीकरणों में से एक वर्गीकरण के रूप में उन्होंने पाश्चात्य मत को स्वीकार कर लिया।

प्रसाद के समय तक साहित्य की विभिन्न विधाओं का अंतर पर्याप्त स्पष्ट हो चुका था और 'काव्य' का

शोध संचयन
SHODH SANCHAYAN
ISSN 2249-9180 (Online)
ISSN 0975-1254 (Print)
RNI No.: DELBIL/2010/31292

Bilingual journal of Humanities & Social Sciences

Half Yearly

Vol. 2, Issue 1 & 2, (Joint Issue)
15 Jan-15 July, 2011

उपन्यासकार 'प्रसाद' के साहित्य सिद्धांत

प्रो० नरेन्द कोहली
कथा साहित्य के अप्रतिम शिल्पी, वरिष्ठ साहित्यकार, १७५, वैशाली, पीतमपुरा, दिल्ली-११००३४

www.shodh.net

'साहित्य' के पर्याय स्वरूप प्रयोग समयातीत हो चुका था। प्रसाद के निबंधों में इन शब्दों का प्रयोग सर्वथा आधुनिक अर्थों में हुआ है। 'काव्य' शब्द से उनका अभिप्राय: कविता से ही है और साहित्य इससे व्यापक शब्द है। उनकी उक्ति,''इसी कारण हमारे साहित्य का आरंभ काव्यमय है,''[19] इस तथ्य की पुष्टि करती है कि उन्होंने काव्य तथा साहित्य को पर्यायवाची शब्दों के रूप में ग्रहण नहीं किया है। प्रसाद के काव्य–सिद्धांतों तथा नाट्य:–सिद्धांतों पर शोध करते हुए क्रमश: डॉ0 सुरेशचंद्र गुप्त तथा डॉ0 निर्मल वधवा ने काव्य तथा नाट्य संबंधी सिद्धांतों को सर्वथा पृथक् रूप में मान्यता दी है।

प्रसाद ने कविता की परिभाषा तो दी है, किंतु साहित्य की परिभाषा अथवा साहित्य के तत्त्वों का सर्वांगीण विवेचन उन्होंने नहीं किया। वैसे, विभिन्न विधाओं और विभिन्न प्रसंगों में उन्होंने साहित्य के कतिपय तत्त्वों का एकाधिक बार उल्लेख किया है। सत्य, सौंदर्य, कल्पना तथा रस ऐसे ही तत्त्व हैं।

प्रसाद जी ने 'जागरण' के संपादकीय अग्रलेख में लिखा था,''हां, अपवित्रता, असत् और दुश्चरित्रता कला का उद्देश्य न होना चाहिए।''[20] अत: सत् कला का उद्देश्य है। प्रसाद जी की उक्ति,''काव्य में श्रेय और प्रेय दोनों का सामंजस्य होता है,''[21] भी इस दिशा में चिंतन के लिए प्रेरित करती है। काव्य–संबंधी उक्तियों के विश्लेषण से डॉ0 सुरेशचंद्र गुप्त इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं : उन्होंने सत्य अथवा प्राकृतिक विभूतियों के अनुभव को काव्य का मूल तत्त्व माना है।''[22] सत्य के क्षेत्र में प्रसाद मूर्त्त तथा अमूर्त्त का भेद स्वीकार नहीं करते : ''कुछ लोग कह सकते हैं कि कवि से हम सत्य की आशा न करके सहृदयता ही पा सकते हैं, किंतु सत्य केवल 1+1 = 2 में ही नहीं सीमित है। अमृत को प्राय: बढ़ा कर देखने से सत् लघु कर दिया गया है, किंतु सत्य विराट् है। उसे सहृदयता द्वारा ही हम सर्वत्र ओत–प्रोत देख सकते हैं। उस सत्य के दो लक्षण बताए गए हैं – श्रेय और प्रेय। इसीलिए सत्य की अभिव्यक्ति हमारे वाङ्मय में दो प्रकार से मानी गई है – काव्य और शास्त्र। शास्त्र में श्रेय का आज्ञात्मक ऐहिक और आमुष्मिक विवेचन होता है और काव्य में श्रेय और प्रेय दोनों का सामंजस्य होता है।''[23] डॉ0 सुरेशचंद्र गुप्त ने श्रेय को आध्यात्मिकता एवं प्रेय को यथार्थ के रूप में ग्रहण किया है।''[24] स्पष्टत: यथार्थ को साहित्य में अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किंतु वहीं तक आकर रुक जाना साहित्यकार के लिए स्पृहणीय नहीं है। उसे यथार्थ से ऊपर उठकर सत्य तक पहुंचना ही चाहिए।

प्रसाद ने सौंदर्य को साहित्य के अनिवार्य उपकरण के रूप में स्वीकार किया है , क्योंकि बाह्य सौंदर्य ही हृदय में सुषुप्त सौंदर्य को जाग्रत करता है और साहित्य का सृजन होता है : ''उसे देखकर मेरे हृदय में कविता करने की इच्छा होती है, वह क्यों ? मेरे हृदय का सोता हुआ सौंदर्य जाग उठता है।''[25] सौंदर्य एक भावात्मक अवधारणा है, अत: उसका कोई निश्चित रूप नहीं है। प्रसाद ने भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टियों की तुलना करते हुए, भारतीय दृष्टि की विशेषता को इन शब्दों में प्रकट किया है: ''मूर्त्त और अमूर्त्त का भेद हटाते हुए बाह्य और आभ्यंतर का एकीकरण करने का प्रयत्न।''[26] इसी विशेषता को आधार मानकर प्रसाद जी की सौंदर्य संबंधी अवधारणा का विश्लेषण करते हुए डॉ0 गुप्त ने स्वीकार किया है: ''उन्होंने सौंदर्य को उसके पूर्णतम रूप में ग्रहण करने के लिए कवियों को यह संदेश दिया है कि वे उसे बाह्यत: प्रकट होने वाले रूप में ग्रहण करके ही संतोष न कर लें, अपितु आत्मा के सौंदर्य से उसका संस्कार करना भी उनका कर्त्तव्य है।''[27] आत्मा का सौंदर्य, आभ्यंतरिक सौंदर्य अथवा सूक्ष्म सौंदर्य, सत्य के सिवाय और कुछ नहीं है। निष्कर्षत: सौंदर्य को, जिसका संबंध रूप से है, सत्य से असंपृक्त नहीं होना चाहिए।

इस संदर्भ में अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न सौन्दर्यानुभूति के स्वरूप का है। प्रसाद जी की मान्यता है : ''भौगोलिक परिस्थितियां और काल की दीर्घता तथा उसके द्वारा होने वाले सौंदर्य संबंधी विचारों का सतत अभ्यास एक विशेष ढंग की रुचि उत्पन्न करता है, और वही रुचि सौन्दर्यानुभूति की तुला बन जाती है ...।''[28] भूगोल एवं इतिहास हमारी सौंदर्य संबंधी अवधारणाओं के निर्माण के निमित्त हुए हैं – यह तथ्य व्यक्ति एवं जाति दोनों के संदर्भ में सत्य है। किसी प्रदेश विशेष के लोगों की सौन्दर्य अवधारणा समान होती है और जैसे–जैसे उनकी संस्कृति प्राचीन एवं परिष्कृत होती जाती है, वे सूक्ष्मता की ओर प्रवृत्त होते जाते हैं।

जातीय अवधारणाओं का इस विषय से गहन संबंध होने के कारण, यह संस्कृति को भी स्पर्श करता है।

शोध संचयन
SHODH SANCHAYAN
ISSN 2249-9180 (Online)
ISSN 0975-1254 (Print)
RNI No.: DELBIL/2010/31292

Bilingual journal of Humanities & Social Sciences

Half Yearly

Vol. 2, Issue 1 & 2, (Joint Issue)
15 Jan-15 July, 2011

उपन्यासकार 'प्रसाद' के साहित्य सिद्धांत

प्रो० नरेन्द कोहली
कथा साहित्य के अप्रतिम शिल्पी, वरिष्ठ साहित्यकार, १७५, वैशाली, पीतमपुरा, दिल्ली-११००३४

www.shodh.net

प्रसाद की उक्ति,''संस्कृति सौंदर्य–बोध के विकसित होने की मौलिक चेष्टा है,''[29] इस कथन का प्रमाण है। अतः प्रसाद की सौंदर्य संबंधी मान्यताएं इस प्रकार हैं : सौंदर्य–बोध में वैविध्य स्वाभाविक है। इसका संबंध भूगोल तथा इतिहास से होने के कारण प्रत्येक जाति का अपना स्वतंत्रता सौंदर्य बोध होता है, अतः जितनी जातियां हैं, उतने ही सौंदर्य–बोध हो सकते हैं। सौंदर्य–बोध का संबंध उस जाति की संस्कृति से है, अतः प्रत्येक संस्कृति अपने जातीय सौंदर्य–बोध का समर्थन ही नहीं, प्रचार एवं प्रसार करने के लिए भी सचेष्ट होगी।

सामान्य साहित्यकार तथा ऐतिहासिक–पौराणिक साहित्यकार के संदर्भ में कल्पना के एकाधिक रूप हो जाते हैं। मनोविज्ञान–वेत्ताओं के अनुसार सामान्यतः अनुभूत वस्तुओं अथवा तथ्यों का पुनर्व्यवस्थापन कल्पना है, किंतु ऐतिहासिक–पौराणिक रचनाओं का सृजन करते हुए कल्पना का यही रूप यथेष्ट नहीं है। अपनी रचनाओं में कल्पना के प्रयोग के विषय में प्रसाद ने स्वीकार किया है : ''... कथा श्रृंखला मिलाने के लिए कहीं–कहीं, थोड़ी–बहुत कल्पना को भी काम में ले आने का अधिकार मैं नहीं छोड़ सका हूं।''यह उक्ति कामायनी के विषय में है, किंतु प्रसाद की किसी भी रचना पर, बिना किसी असुविधा के घटित की जा सकती है। उनके समस्त ऐतिहासिक–पौराणिक नाटक कल्पना के इस उत्पाद्यलावण्य रूप की स्वीकृति देते हैं। उनमें प्रख्यात घटनाओं की नवीन व्यवस्था भी है तथा नूतन घटनाओं की कल्पना भी। काव्य की परिभाषा करते हुए प्रसाद ने अनुभूति के जिस 'संकल्पात्मक रूप' पर अत्यधिक बल दिया है, उसका अभिप्राय भी कल्पना के इसी स्वरूप का पोषण करना हो सकता है, क्योंकि संकल्प सामंजस्य की ही अन्य संज्ञा है और उत्पाद्यलावण्य का प्रयोजन भी रचना के पात्रों, घटनाओं तथा प्रभाव में एक प्रकार के सामंजस्य को प्रस्तुत करता है।

सम्प्रति, सामान्यतः साहित्य की आत्मा की चर्चा नहीं होती, इस विषय को समयातीत मान लिया गया है। किंतु, प्रसाद ने शास्त्रीय परंपरा के अनुसार काव्य तथा नाटक की आत्मा की चर्चा की है। वे काव्य तथा नाटक की आत्मा की परिकल्पना करते हैं, तो अवश्य ही उनके मन में साहित्य की आत्मा की अवधारणा भी रही होगी, जो किसी बाध्यता अथवा अवसराभाव के कारण उल्लिखित न हो सकी। किंतु, समग्र साहित्य में, विशेषकर उपन्यास तथा कहानी जैसी गद्यात्मक विधाओं में – अपने शास्त्रीय स्वरूप में रस का अन्वेषण असमीचीन होगा। युग–परिवर्तन के कारण अभिव्यक्ति के माध्यम के समान ही रस का स्वरूप भी अवश्य परिवर्तित हुआ होगा। साहित्य–प्रयोजन के संदर्भ में प्रसाद ने मनोरंजन का उल्लेख किया है, जो उपन्यास के संदर्भ में उचित भी प्रतीत होता है। उपन्यास में आकर रस का रोचकता में परिणत हो जाना अनिवार्य–सा ही है। अतः रोचकता को साहित्य के तत्त्व–स्वरूप स्वीकार करना अनुचित न होगा।

साहित्य के स्वरूप के संदर्भ में एक गौण–सा प्रश्न श्रृंगार रस का भी है। उस समय एक ओर द्विवेदी–युग का श्रृंगार– विरोधी अवशिष्ट प्रभाव था और दूसरी ओर प्रेमचंद का श्रृंगार– विरोधी अभियान। प्रेमचंद के ही समान प्रसाद ने भी अनुभव किया था कि दीर्घकाल तक साहित्य में श्रृंगार के प्राधान्य ने इस देश की जनता को शिथिल कर दिया है, अतः अब एक भीषण परिवर्तन की आवश्यकता है : ''श्रृंगार रस की मधुरता पान करते–करते आपकी मनोवृत्तियां शिथिल तथा अकुला गई हैं। इस कारण अब आपको भावमयी, उत्तेजनामयी, अपने को भुला देने वाली कविताओं की आवश्यकता है। अस्तु धीरे–धीरे जातीय संगीतमयी वृत्ति स्फुरणकारिणी, आलस्य को भंग करने वाली, आनंद बरसाने वाली, धीर गंभीर पदविक्षेपकारिणी शांतिमयी कविता की ओर हम लोगों को अग्रसर होना चाहिए।''[30] इससे स्पष्ट है कि प्रसाद, प्रेमचंद के समान साहित्य में श्रृंगार के उग्र विरोधी नहीं हैं। किंतु घोर श्रृंगार के समर्थक भी वे नहीं हैं[31] और विशेषकर देश की तत्कालीन परतंत्रता के संदर्भ में श्रृंगार का अनुचित महत्त्व उन्हें स्वीकार्य नहीं है। साहित्य में श्रृंगार का आधिक्य राष्ट्र के लिए जड़ता कभी नशे का कार्य करता है। अतः श्रृंगार के स्थान पर, साहित्य में अन्य विषयों को महत्त्व देकर राष्ट्र की जड़ावस्था को भंग करना होगा।

समग्र रूप से प्रसाद जी के अनुसार साहित्य सत्य, सौंदर्य, सामंजस्यपूर्ण कल्पना एवं रस से युक्त है। उसके विषयों को देश–काल एवं परिस्थितियों की अपेक्षा के अनुकूल बनना होगा, अतः देश तथा काल के भेद से उसका विषय, उसका धर्म, परिवर्तित भी हो सकता है, वह स्थायी नहीं है। उनका चिंतन, इस क्षेत्र में प्रेमचंद के अत्यधिक अनुकूल है।

SHODH SANCHAYAN

शोध संचयन
SHODH SANCHAYAN
ISSN 2249-9180 (Online)
ISSN 0975-1254 (Print)
RNI No.: DELBIL/2010/31292

Bilingual journal of Humanities & Social Sciences

Half Yearly

Vol. 2, Issue 1 & 2, (Joint Issue)
15 Jan-15 July, 2011

उपन्यासकार 'प्रसाद' के साहित्य सिद्धांत

प्रो० नरेन्द कोहली
कथा साहित्य के अप्रतिम शिल्पी, वरिष्ठ साहित्यकार, १७५, वैशाली, पीतमपुरा, दिल्ली-११००३४

www.shodh.net

प्रेमचंद ही नहीं, उस युग के प्राय: समस्त उपन्यासकारों में यथार्थ एवं आदर्श का विवाद चल रहा था। साहित्य में यथार्थ–चित्रण तथा आदर्श–चित्रण वादों से संबद्ध कर दिए गए थे, और उनके दार्शनिक आधार भी खोज निकाले गए थे। ये साहित्यिक वाद साहित्य की सीमाओं का अतिक्रमण कर, दर्शन शास्त्र और राजनीति शास्त्र की सीमाओं का स्पर्श कर रहे थे। प्रसाद के सम्मुख भी ये प्रश्न आए। प्रसाद ने इन दोनों वादों में से मात्र एक का भी वरण नहीं किया। उनके तद्विषयक दृष्टिकोण को आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने बहुत सुलझे हुए रूप में अभिव्यक्ति दी है : ''प्रसाद जी स्पष्ट ही इन दोनों वादों का विरोध करते हैं। उनका कथन है कि 'सांस्कृतिक केंद्रों में जिस विकास का आभास दिखाई पड़ता है, वह महत्त्व और लघुत्व के दोनों सीमांतों के बीच की वस्तु है,' यहां महत्त्व और लघुत्व दोनों सीमांतों से प्रसाद जी का तात्पर्य ऐतिहासिक आदर्शवाद और यथार्थवाद के सीमांतों से है। दार्शनिक सीमांतों की ओर यहां उनकी दृष्टि नहीं है। ... इस बीच की वस्तु या मध्यस्थता के निर्देश से वह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि प्रसाद जी सिद्धांतत: मध्यवर्गीय थे। प्रसाद जी आदर्शवाद और यथार्थवाद की बौद्धिक दार्शनिकता के विरोधी थे।[32]

साहित्यिक यथार्थ (यथार्थवाद)तथा आदर्श (आदर्शवाद) के संबंध में प्रसाद की अपनी मौलिक धारणाएं थीं, जो परंपरागत धारणाओं से सर्वथा भिन्न एवं नवीन हैं। यथार्थवाद के संबंध में उनकी एकाधिक उक्तियां उपलब्ध होती हैं :

(क)''यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात ! उसमें स्वभावत: दु:ख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है साहित्य के माने हुए सिद्धांत के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण से अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दु:ख और अभावों का वास्तविक उल्लेख।''[33]

(ख) ''वेदना से प्रेरित होकर जन–साधारण के अभाव और उनकी वास्तविक स्थिति तक पहुंचने का प्रयत्न यथार्थवादी साहित्य करता है।''[34]

(ग)''वस्तुत: यथार्थवाद का मूल भाव है वेदना।''[35]

परंपरागत यथार्थवाद में जो रुक्ष भौतिक, नास्तिक दृष्टिकोण है, प्रसाद जी उसे स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार यथार्थवाद जीवन की लघु वस्तुओं एवं घटनाओं – वैयक्तिक जीवन के दु:खों एवं अभावों का वास्तविक चित्रण तो करता है, किंतु उसके मूल में निराशा अथवा वितृष्णा न होकर वेदना है जो करुणा की सहयोगिनी है। अत: इस यथार्थवाद में वेदना तथा करुणा का रस है जो न इसे शुष्क होने देता है और न कठोर ! परंपरागत यथार्थवाद से इसका साम्य मात्र इतना ही है कि वे दोनों ही लघुत्व, दु:खों एवं अभावों की उपेक्षा नहीं करते। किंतु वैषम्य उससे कहीं अधिक है : परंपरागत यथार्थवाद निराशा, वितृष्णा, नास्तिकता एवं रूढि–विरोध पर अवलंबित होने के कारण अनास्था का प्रचार कर जीवन को कठोर, रुक्ष तथा अजीव्य बनाता है (भाषा में भद्दे–भदेस तथा ग्राम्य शब्दों का प्रयोग करता है तथा जीवन के सुंदर तत्त्व का पूर्णत: विरोध करता है। दूसरी ओर प्रसाद का यथार्थवाद जीवन के लघु तत्त्वों, दु:खों एवं अभावों के प्रति वेदना तथा सहानुभूति का भाव प्रकट कर जीवन में आस्था एवं निष्ठा की वृद्धि करता है तथा भावात्मक अवधारणाओं को प्रोत्साहन देता है।

आदर्शवाद के स्वरूप के विषय में प्रसाद जी ने कुछ विशेष नहीं लिखा : शुद्ध यथार्थवाद एवं आदर्शवाद का विरोध करते हुए उन्होंने उसके स्वरूप की ओर इंगित मात्र किया है। शुद्ध आदर्शवाद को वे 'उपदेश' मात्र मानते हैं, अत: वह साहित्य में स्वीकार्य नहीं है। दूसरी ओर शुद्ध यथार्थवाद भी इतिहास के अत्यंत समीप होने के कारण साहित्य में प्रवेश का अधिकारी नहीं है। इन दोनों वादों का विरोध उन के इस दीर्घ उदाहरण से प्रकट होता है : ''कुछ लोग कहते हैं साहित्यकार को आदर्शवादी होना ही चाहिए और सिद्धांत से ही आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्त्ता बन जाता है। वह समाज को कैसा होना चाहिए, यही आदेश करता है और यथार्थवादी सिद्धांत से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नहीं ठहरता (क्योंकि यथार्थवाद इतिहास की संपत्ति है। वह चित्रित करता है कि समाज कैसा है या था (किंतु साहित्यकार न तो इतिहासकर्त्ता है और न धर्मशास्त्र प्रणेता। इन दोनों के कर्त्तव्य स्वतंत्र हैं। साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का काम करता है। साहित्य समाज की,

शोध संचयन
SHODH SANCHAYAN
ISSN 2249-9180 (Online)
ISSN 0975-1254 (Print)
RNI No.: DELBIL/2010/31292

Bilingual journal of Humanities & Social Sciences

Half Yearly

Vol. 2, Issue 1 & 2, (Joint Issue)
15 Jan-15 July, 2011

उपन्यासकार 'प्रसाद' के साहित्य सिद्धांत

प्रो० नरेन्द कोहली
कथा साहित्य के अप्रतिम शिल्पी, वरिष्ठ साहित्यकार, १७५, वैशाली, पीतमपुरा, दिल्ली-११००३४

www.shodh.net

वास्तविक स्थिति क्या है, इसको दिखाते हुए भी उसमें आदर्शवाद का सामंजस्य स्थिर करता है। दु:ख–दग्ध जगत् और आनंदपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है (इसलिए असत्य अघटित घटना पर, कल्पना को वाणी महत्त्वपूर्ण स्थान देती है, जो निजी सौंदर्य के कारण सत्य–पद पर प्रतिष्ठित होती है। उसमें विश्व–मंगल की भावना ओत–प्रोत रहती है।''[36]

प्रेमचंद के साहित्य–सिद्धांतों के विवेचन के प्रकाशन में प्रसाद के दृष्टिकोण को हम सुविधापूर्वक 'मानवतावाद' कह सकते हैं (किंतु यह प्रसाद जी के प्रति अन्याय होगा। प्रेमचंद इन वादों का साहित्य में अस्तित्व स्वीकार करते हैं (किंतु प्रसाद साहित्य में उन्हें कोई स्थान देने को प्रस्तुत नहीं और न ही उनके समन्वय से किसी नवीन 'वाद' की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं, उनका लक्ष्य था, संसार के दु:खों को दृष्टि में रखकर लेखनी के माध्यम से संसार को सुखी बनाना। यह कोई वाद नहीं, एक दृष्टि मात्र है। पर यदि इसे किसी वाद से संपृक्त करना अनिवार्य हो तो यह प्रसाद जी का अपना 'आनंदवाद' है, जिस के मूल में 'सामंजस्य की पुकार' है। कला तथा कलाकार के व्यक्तित्त्व में घनिष्ठ संबंध है (और जब से कला अथवा साहित्य में व्यक्ति–तत्त्व को महत्त्व दिया जाने लगा है, तब से यह संबंध और अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है। वाल्मीकि, व्यास, तुलसी आदि संत–साहित्यकारों के साहित्य के संबंध में इस विषय को लेकर कोई कठिनाई नहीं होती (किंतु बहुत से समसामयिक साहित्यकारों के साहित्य के विषय में इस तत्त्व को लेकर कतिपय भ्रांतियों की संभावना अवश्य होती है। किसी कलाकार के व्यक्तित्व अथवा चरित्र को यदि हम उसकी कृतियों की कसौटी बना लें तो अच्छा व्यक्ति ही अच्छा कलाकार हो सकेगा। साहित्य तथा अन्य ललित कलाओं का इतिहास स्पष्ट करता है कि विपुल संस्कृति ऐसे कलाकारों अथवा साहित्यकारों की है, जिनका निजी चरित्र अनुकरणीय न होने पर भी उन्होंने अनेक अनुपम कृतियां इस संसार को दी हैं। तो कला की कसौटी क्या हो – कलाकार का व्यक्तित्व अथवा उसकी रचना ? प्रसाद के विचार इस संदर्भ में स्पष्ट हैं : ''यदि कोई कलाकार चारित्रिक पतन के कारण अपने व्यक्तित्व को नष्ट करके भी कला में कल्याणमयी सृष्टि कर सकता है, तो उसका विशेषाधिकार मानते हुए प्राय: लोग देखे जाते हैं। कालिदास आदि के संबंध में ऐसा ही कहा जाता है, किंतु इसका यह मतलब नहीं कि कलाकार को कुचरित्र होना ही चाहिए। यह नि:संकोच कहा जा सकता है कि कलाकार की कसौटी उसकी कला है, न कि उसका व्यक्तित्व। वाल्मीकि और व्यास का आदर्श रखते हुए तो यह कहना पड़ता है कि बिना जले हुए, विदग्ध साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती, और कलाकार अपनी कला में व्यक्तित्व को खोकर कला के ही रूप में प्रतिष्ठित होता है। उसे जनता का सम्मान मिलता ही है, चाहे आज मिले या हजारों वर्ष बाद।''[37] अत: अच्छे साहित्यकार का चरित्र अच्छा होना ही चाहिए क्योंकि 'बिना जले हुए विदग्ध साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती' (किंतु यदि ऐसा न हो, क्योंकि किसी व्यक्ति–विशेष के व्यक्तित्व के अनेक आयाम हो सकते हैं) और वह विभिन्न रूपों में जी सकती है, तो कला की कसौटी, कृति ही है, लेखक का व्यक्तित्व अथवा चरित्र नहीं।

''कुछ संगीतों की असंगति और कुछ अस्पष्ट छाया उसके हृदय की निधि थी, पर लोग उसे निकम्मा, पागल और आलसी कहते थे। एकान्त रजनी में सरिता कलोल करती हुई बही जा रही थी। रसदेव ने कल्पना के नेत्रों से देखा, अकस्मात् नदी का जल स्थिर हो गया और अपने मरकत–मृणाल पर एक सहस्रदल मणि–पद्म जल–तल से ऊपर आकर तेज पवन में झूमने लगा। लहरों में स्वर के उपकरण से मूर्ति बनी, फिर नूपुरों की झनकार होने लगी। धीर–मंथर गति से तरल आस्तरण पर पैर रखते हुए एक छवि आकर उस कमल पर बैठ गई। रसदेव बड़बड़ा उठा। वह काली रजनी वाले दुष्ट दिनों की दु:ख–गाथा और आज की वैभवशाली निशा की सुख–कथा मिला कर कुछ कहने लगा। वह छवि सुनती–सुनती मुसकराने लगी, फिर चली गई। नूपुरों की मधुर–मधुर ध्वनि अपनी संगत का आधार उसे देती गई। विश्व का रूप रसमय हो गया। आकृतियों का आवरण हट गया। रसदेव की आंखें पारदर्शी हो गईं। आज रसदेव के हृदय की अव्यक्त ध्वनि सार्थक हुई। वह कोमल पदावली गाने लगी।''[38]

यह सृजन–प्रक्रिया गीतों की है, कहा नहीं जा सकता कि अन्य विधाओं के संबंध में प्रसाद इसे कहां तक उपयोगी समझते हैं। फिर भी सृजन–प्रक्रिया के रूप में इस का महत्त्व न्यून नहीं हैं। इसके अनुसार साहित्यकार

शोध संचयन SHODH SANCHAYAN

शोध संचयन
SHODH SANCHAYAN
ISSN 2249-9180 (Online)
ISSN 0975-1254 (Print)
RNI No.: DELBIL/2010/31292

Bilingual journal of Humanities & Social Sciences

Half Yearly

Vol. 2, Issue 1 & 2, (Joint Issue)
15 Jan-15 July, 2011

उपन्यासकार 'प्रसाद' के साहित्य सिद्धांत

प्रो० नरेन्द्र कोहली
कथा साहित्य के अप्रतिम शिल्पी, वरिष्ठ साहित्यकार, १७५, वैशाली, पीतमपुरा, दिल्ली-११००३४

www.shodh.net

में कतिपय गुणों की अवस्थिति अनिवार्य है : रसदेव के पास 'संगीतों की असंगति' तथा 'अस्पष्ट छाया' थी। वह 'कल्पना' के नेत्रों से देखता था। उसमें 'दुष्ट दिनों की दु:ख–गाथा' तथा 'वैभवशाली निशा की कथा' का समन्वय था। इन तत्त्वों के एकीकरण के पश्चात् रसदेव एक छवि को देखता है, जो कुछ क्षणों के पश्चात् चली जाती है, किंतु उसका प्रभाव रसदेव की आंखों को पारदर्शी कर जाता है। उन पारदर्शी आंखों के कारण उसके हृदय की अव्यक्त ध्वनि सार्थक होती है और वह कोमल पदावली गाने में समर्थ होता है। निष्कर्षत: साहित्यकार में सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा कुछ अधिक गुण होते हैं। उन गुणों के कारण उसे वस्तु–दर्शन की विशिष्ट क्षमता प्राप्त होती है जिसके अनन्तर वह उसे शब्दों में अभिव्यक्त करने में समर्थ होता है।

प्रसाद की इस सृजन–प्रक्रिया की तुलना कुछ अंशों में प्लेटो तथा क्रोचे से की जा सकती है। प्लेटो के अनुसार भी कलाकार अविशिष्टावस्था में विशिष्ट दर्शन–क्षमता प्राप्त करता है और बाद में उसे कला के उपकरणों में बांधने का प्रयत्न करता है। दूसरी ओर क्रोचे भी कला–कृति को कलाकार की सहजानुभूति का मूर्तिकरण मानता है। प्रसाद के विचारों का इन दोनों पाश्चात्य विद्वानों से सहज–साम्य अवश्य है, किंतु ये तीनों एक ही सिद्धांत के प्रतिपादक नहीं हैं। न ही प्रसाद उन के सिद्धांतों का पोषण करते हैं (उनके विचारों का अपना स्वतंत्र महत्त्वपूर्ण स्थान है।

समग्र रूप से उपन्यासकार प्रसाद का अपना कोई सिद्धांत नहीं है। सिद्धांतों वाले प्रसाद या तो कवि हैं अथवा नाटककार। उपन्यासकार अथवा कहानी की दृष्टि से चिंतन उन्होंने नहीं किया। अन्य रूपों में जो सिद्धांत उन्होंने प्रस्तुत किए हैं, अधिकांशत: वे शास्त्रीय एवं परंपरावादी हैं। किंतु वे सिद्धांत प्रसाद के लिए मात्र पुस्तकीय ज्ञान नहीं है। उन्हें प्रसाद ने अपने साहित्य एवं जीवन में अनुभूत यथार्थ के रूप में प्राप्त किया है, यही कारण है कि परंपरावादी होने पर भी उनके सिद्धांत मृत अथवा समयातीत नहीं लगते, वे सजीव, सशक्त एवं सद्यानुभूत हैं।

संदर्भ:-

1. काव्य और कला तथा अन्य निबंध, जयशंकर प्रसाद पृ0 33 ।
2. इंदु, कार्तिक, संवत् 1967 वि0, पु0 123.124 ।
3. स्कंदगुप्त, पृ0 21 (मातृगुप्त की उक्ति)
4. पथ के साथी, महादेवी वर्मा, पृ0 77 ।
5. पथ के साथी, महादेवी वर्मा, पृ0 73
6. इंदु, ज्येष्ठ, संवत् 1967, पृ0 181 ।
7. इंदु, आश्विन, शुक्ल 2, संवत् 1967, पृ0 182 ।
8. काव्य और कला तथा अन्य निबंध, जयशंकर प्रसाद, पृ0 70 ।
9. स्कंदगुप्त, जयशंकर प्रसाद, पृ0 21 ।
10. प्रसाद और उनका साहित्य विनोदशंकर व्यास पृ0 22 ।
11. आकाशदीप, पृ0 134 ।
12. प्रसाद और उनका साहित्य विनोदशंकर व्यास, पृ0 24–25 ।
13. स्कंदगुप्त, जयशंकर प्रसाद, पृ0 29 ।
14. वही, पृ0 21।
15. आकाशदीप, जयशंकर प्रसाद, पृ0 86 ।
16. काव्य और कला तथा अन्य निबंध, जयशंकर प्रसाद, पृ0 41– 42 ।
17. आधुनिक हिंदी नाटककारों के नाट्य–सिद्धांत, टंकित प्रति, पृ0 155 ।
18. आधुनिक हिंदी कवियों के काव्य–सिद्धांत, पृ0 347 ।
19. काव्य और कला तथा अन्य निबंध, जयशंकर प्रसाद, पृ0 38 ।
20. प्रसाद और उनका साहित्य विनोदशंकर व्यास, पृ0 22 ।
21. काव्य और कला तथा अन्य निबंध, जयशंकर प्रसाद, पृ0 37 ।
22. आधुनिक हिंदी कवियों के काव्य–सिद्धांत ।
23. काव्य और कला तथा अन्य निबंध, जयशंकर प्रसाद, पृ0 37 ।
24. आधुनिक हिंदी–कवियों के काव्य–सिद्धांत, जयशंकरप्रसाद, पृ0349 ।

शोध संचयन
SHODH SANCHAYAN

शोध संचयन
SHODH SANCHAYAN
ISSN 2249-9180 (Online)
ISSN 0975-1254 (Print)
RNI No.: DELBIL/2010/31292

Bilingual journal of Humanities & Social Sciences

Half Yearly

Vol. 2, Issue 1 & 2, (Joint Issue)
15 Jan-15 July, 2011

उपन्यासकार 'प्रसाद' के साहित्य सिद्धांत

प्रो० नरेन्द्र कोहली
कथा साहित्य के अप्रतिम शिल्पी, वरिष्ठ साहित्यकार,
१७५, वैशाली, पीतमपुरा,
दिल्ली-११००३४

www.shodh.net

25. आकाशदीप, जयशंकर प्रसाद, पृ0 93 ।
26. काव्य और कला तथा अन्य निबंध, जयशंकर प्रसाद, पृ0 36 ।
27. आधुनिक हिंदी–कवियों के काव्य–सिद्धांत, जयशंकरप्रसाद, पृ0355 ।
28. काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ0 28 ।
29. वही, पृ0 28 ।
30. कामायनी, जयशंकर प्रसाद, आमुख, पृ0 8 ।
31. इंदु, श्रावण, संवत् 1967, पृ0 24 ।
32. तुलनीय, 'कामायनी' का चिंता सर्ग ।
33. प्रसाद और उनका साहित्य विनोदशंकर व्यास, पृ0 40 से उद्धृत।
34. काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ0 118 ।
35. वही, पृ0 120 ।
36. वही, पृ0121 ।
37. वही, पृ0 121 ।
38. प्रसाद और उनका साहित्य विनोदशंकर व्यास, पृ022–23 से उद्धृत।
39. आकशदीप, जयशंकर प्रसाद, पृ0 84 ।

शोध संचयन
SHODH SANCHAYAN